बचपन, काम और स्कूलिंग : एक चिंतन

डी. वसंता

अनुवाद: योगेन्द्र दत्त

क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र (RRCEE)
केंद्रीय शिक्षा संस्थान
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

Source: D. Vasanta (2004), Childhood, Work and Schooling: Some Reflections, *Contemporary Education Dialogue*, Volume 2:1, Monsoon 2004, pp 5-29

डी. वसंता (2004), *बचपन, काम और स्कूलिंग: एक चिंतन, Contemporary Education Dialogue*, Volume 2:1, Monsoon 2004, pp 5-29. अनुवाद: योगेन्द्र दत्त, क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र, केंद्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 110007

© Copyright RRCEE, 2008

Regional Resource Centre for Elementary Education (USRN-DU)
Room No. 106, CIE Annexe
Academic Research Centre
Guru Tegh Bahadur Marg
University of Delhi
Delhi-110007

Telefax: 27667434

Tel: 27667030, Extn: 426

Email: usrn.du@gmail.com
www.eledu.net

Translation Supported by: Sir Ratan Tata Trust, Bombay House, Homi Modi Street, Mumbai 400001

बचपन, काम और स्कूलिंग : एक चिंतन

डी. वसंता

सारांश : *आम धारणा है कि स्कूली शिक्षा बच्चों के शोषण का सबसे बड़ा इलाज है। फिर भी हमारे सामने ऐसे जीवन-जगत हैं जहां बच्चों के काम करने को बाल मजदूरी नहीं कहा जा सकता और स्कूल व काम के बीच हमेशा टकराव नहीं रहता। एलीमेंट्री शिक्षा के साविर्कीकरण के संदर्भ में इस मुद्दे से संबंधित स्थापित धारणाओं पर पुनर्विचार जरूरी है क्योंकि इस प्रक्रिया में विविध सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से आने वाले बच्चे एक ही दायरे में खड़े होते हैं। आंध्र प्रदेश के सरकारी स्कूलों के अध्ययन से प्रेरित इस पर्चे में बहुत सारे दस्तावेजों की समीक्षा के आधार पर ये दलील दी गई है कि विकास मनोविज्ञान, शिक्षा, कल्याण नीति और बच्चों से संबंधित कानूनों में मध्यवर्गीय, गोरे, पुरुष शहरी बचपन को ही 'स्वाभाविक' माना जाता है। न केवल विशेषज्ञों की राय इस धारणा से प्रभावित रहती है बल्कि सांस्कृतिक तौर-तरीके और रवैये भी इस से काफी हद तक निर्धारित होते हैं। इसके बाद यह पर्चा उन दूसरे जीवन परिवेशों को सामने लाता है जो बचपन में निहित विविधता को उजागर करते हैं, इस धारणा को चुनौती देते हैं कि स्कूल एक निष्पक्ष दायरा है और बचपन से संबंधित भ्रांतियों को पुष्ट करने व बच्चों के शोषण को बढ़ावा देने में वैश्विक राजनीतिक-आर्थिक ताकतों व अंतर्राष्ट्रीय कल्याणकारी ताकतों की भूमिका को उजागर करता है।*

ज्यादातर संस्कृतियों में स्कूली शिक्षा को बचपन का 'सामान्य' हिस्सा माना जाता है। आम धारणा है कि स्कूली शिक्षा के जरिए बच्चों, खासतौर से गरीब तबकों के बच्चों के शोषण पर रोक लगाई जा सकती है। जो लोग इस बात पर यकीन रखते हैं उनका यह भी मानना है कि स्कूलिंग की वजह से बच्चों के समय में मां-बाप का हिस्सा सिमट जाता है। परंतु ऐसे लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि खुद स्कूल भी बच्चों पर नए तरह के नियंत्रण स्थापित कर देते हैं। जिन बच्चों का काम बाल मजदूरी की परिभाषा में नहीं आता उनके जीवन परिवेश पर हुए अध्ययनों का निष्कर्ष है कि स्कूलिंग और काम के बीच हमेशा सीधा टकराव नहीं होता और बहुत सारे बच्चों के लिए ये दोनों अलग-अलग दायरे हैं जो एक-दूसरे के लिए पूरक का काम करते हैं। लिहाजा, स्कूलों में गरीब तबके के बच्चों की बढ़ती संख्या को देखते हुए जरूरी है कि हम बचपन, काम और स्कूलिंग से संबंधित कुछ स्थापित धारणाओं पर पुनर्विचार करें। बचपन से संबंधित साहित्य की समीक्षा और आंध्र प्रदेश के सरकारी स्कूलों पर किए गए एक अध्ययन[2] की समीक्षा के आधार पर इस पर्चे में 'आदर्श बचपन' की अवधारणा तथा स्कूलिंग एवं बच्चों के काम पर उसके असर की चर्चा की गई है।

> मैं सुबह साढ़े पांच बजे उठती हूं। घर में झाड़ू लगाती हूं और बर्तन धोती हूं। मैं मुंह धोकर चाय पीती हूं। फिर मैं दूसरे घरों में घरेलू काम करने जाती हूं। 11 बजे वहां से

लौटती हूं। मेरा स्कूल दोपहर 12 बजे शुरू होता है और पांच बजे छुट्टी हो जाती है। साढ़े पांच बजे मैं घर लौटती हूं। इसके बाद में खाना बनाती हूं और घर के दूसरे काम निपटाती हूं। रात के साढ़े आठ बजे तक मैं अपना होमवर्क पूरा करती हूं, खाना खाती हूं और साढ़े नौ–दस बजे तक सो जाती हूं।

परियोजना स्कूल "एन" की कक्षा 8 की एक छात्रा

दो साल लंबे अध्ययन के दौरान आंध्र प्रदेश के 10 सरकारी स्कूलों के 300 माध्यमिक स्कूल के बच्चों की दैनिकचर्या के विवरण से मुझे अहसास हुआ कि इन बच्चों की जिंदगी उन मध्यवर्गीय बच्चों की जिंदगी से बहुत अलग है जिनको मैं आमतौर पर देखती थी। मैं इस अध्ययन का हिस्सा थी इसलिए मुझे सबसे बड़ा फर्क यह दिखाई दिया कि 'काम' के वयस्क परिवेश में हमेशा गरीबों के बच्चे ही हिस्सेदारी करते हैं भले ही वे घरेलू काम होते हैं जिनके लिए उन्हें कोई तनख्वाह नहीं मिलती। उनके दैनिक जीवन का विवरण सामान्य रूप से जीवन विकास और खासतौर से बचपन के उस प्रचलित विवरण से काफी अलग था जिसका मैंने विकास मनोविज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में अध्ययन किया था। ऐसा लगता है कि स्कूली पाठ्य पुस्तकें लिखने वालों और शिक्षा संबंधी नीति निर्माताओं के जहन में भी यही प्रचलित धारणाएं थीं। तो क्या आदर्श बचपन जैसी कोई चीज वाकई होती है? क्या कोई 'राष्ट्रीय बच्चा' होता है जिसको ध्यान में रखकर शिक्षा की रूपरेखा तैयार की जाती है। अगर वाकई ऐसा है तो वह (आदर्श) बच्चा कैसा है? स्कूलिंग के बाहर वे कौन से विमर्श हैं जो आदर्श बचपन की अवधारणा को और पुष्ट करते हैं? स्कूलिंग और शिक्षाशास्त्र के लिए इसके क्या निहितार्थ हैं? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जो यहां मैंने इस उम्मीद के साथ उठाए हैं कि उनसे स्कूल शिक्षा संबंधी मौजूदा बहसों में और गहराई पैदा होगी।

आदर्श बचपन

मनोविज्ञान में बच्चे हमेशा ही सबसे महत्वपूर्ण विषय समूहों में रहे हैं। शिक्षा और पालन–पोषण से संबंधित किताबें पश्चिम में सोलहवीं सदी में ही लिखी जाने लगी थीं और तब से आज तक विकास मनोविज्ञान में प्रचलित बच्चों की छवियां लगातार बदलती रही हैं (और विस्तृत चर्चा के लिए देखें रिचड्र्स 2002)। विकास मनोविज्ञान जैविक एवं पर्यावरणीय कारकों से मनुष्य की बनावट, विचारों और आचरण में आने वाले बदलावों का अध्ययन करते हुए सामान्य मानव विकास की सार्वभौमिक प्रक्रियाओं को सामने लाने का प्रयास करता है (बटरवर्थ 2002)। बच्चे को एक अधूरे वयस्क के रूप में देखा जाता है जिसे विकसित होने और 'वयस्क जैसा' बनने की जरूरत है। मान लिया जाता है कि विकास की यह प्रक्रिया उन लंबवत् और क्षैतिज संबंधों की मार्फत आगे बढ़ती है जिनमें हर बच्चे को दाखिल होना ही है। लंबवत संबंधों का मतलब बच्चे और किसी ऐसे व्यक्ति के बीच बनने वाले संबंधों से होता है जो बच्चे के मुकाबले ज्यादा ताकतवर हैसियत में होता है। मां–बाप, शिक्षक या अन्य वयस्क इसी श्रेणी में आते हैं। क्षैतिज संबंध अपेक्षतया ज्यादा समतापरक होते हैं क्योंकि ये संबंध अपनी उम्र के सदस्यों, बराबर की सत्ता वाले सदस्यों के बीच बनते हैं। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि बच्चे अपने

लंबवत् संबंधों के जरिए सामाजिक क्षमताएं सीखते और ग्रहण करते हैं जबकि क्षैतिज संबंध उन्हें आपसी सहयोग, प्रतिस्पर्धा और अंतरंगता का हुनर सिखाते हैं। शैशव अवस्था में ही शुरू हो जाने वाली समाजीकरण ही यह प्रक्रिया वयस्क होने तक जारी रहती है। जैसा कि कई शोधकर्ताओं ने कहा है और नीचे चित्र 1 में दर्शाया गया है, यह बच्चे (यानी जैविक कारक) और परिवेश (यानी सामाजिक कारक) के बीच एक-दूसरे को प्रभावित करने वाली एक सतत प्रक्रिया होती है।

चित्र 1

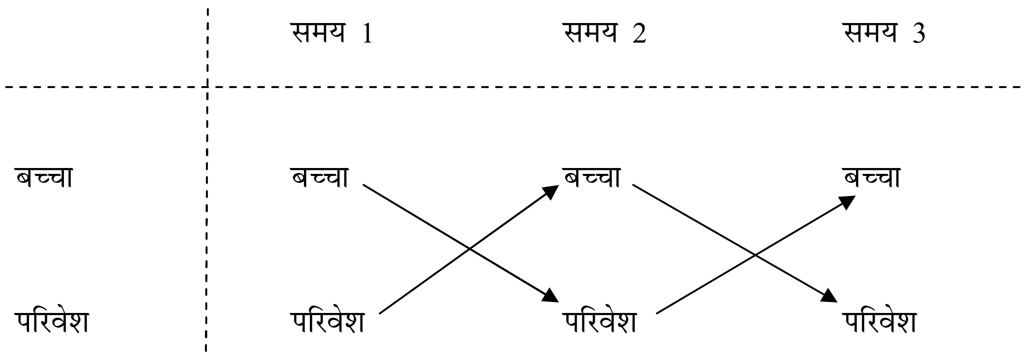

स्रोत : मैसर एवं मिलॉन (1999)

इस क्षेत्र में परिवेश शब्द को काफी व्यापक अर्थ में परिभाषित किया गया है। कई बार इसका आशय भौतिक परिवेश या परिवार से होता है तो कई बार भावनाओं से। हाल के समय तक विकास अनुसंधान का मुख्य जोर अमूर्त एकल बच्चे पर रहा है (और विवरण के लिए देखें स्मिथ, कोबी एवं ब्लेड्स 1998; मुईर 1999; मैसर एवं मिलॉन 1999)।

विकास मनोविज्ञान केवल मनोविज्ञान का उप-विषय नहीं है। इस क्षेत्र की समालोचना करते हुए बर्मन (1997) ने कहा है कि विकास मनोविज्ञान सिद्धांतों की विविधता ने बच्चों के स्वभाव, गुणों, मनोवैज्ञानिक विकास व परिवर्तन प्रक्रियाओं और पारिवारिक जीवन से संबंधित चर्चाओं को आपस में उलझा दिया है। ये सिद्धांत केवल प्रयोगशाला या पाठ्यपुस्तकों तक सीमित नहीं थे। वे कल्याणकारी पेशेवरों के लिए एक मुख्य संसाधन थे। विकास मनोविज्ञान ने जो फ्रेमवर्क उपलब्ध कराया है उससे स्वास्थ्य पेशेवरों (सामुदायिक मनोचिकित्सक नर्से, मनोवैज्ञानिक आदि), विशेष शिक्षाकर्मियों और शिक्षा मनोविज्ञान पर आधारित प्रशिक्षण पाने वाले नियमित स्कूल अध्यापकों के तौर-तरीकों पर काफी असर पड़ा है। लेकिन यह ज्ञान इन पेशेवरों का एकमात्र स्रोत नहीं है। यह उन तरीकों से संचरित होता है जिन तरीकों से हम महिलाओं की पत्रिकाओं, स्वयं सहायता पुस्तकों और खिलौना उद्योग आदि के जरिए बच्चों, अभिभावकों और अन्य परिजनों के रूप में अपने अनुभवों को शक्ल देते हैं (ऐरीज 1962; बर्मन 1997 में उद्धृत बर्मन 1991; सिंगर 1992)। इससे पालन-पोषण, बच्चे पर नियंत्रण, राजकीय सहायता की योग्यता, मनोचिकित्सकों तक रेफरल आदि से संबंधित फैसले भी प्रभावित होते हैं। बर्मन (1997) का कहना है कि बच्चों के विकास की कहानी सांख्यिकीय विवरणों को सामाजिक नुस्खों (जिससे तय

होता है कि क्या सामान्य है और क्या विकृत है) में बदलने का एक बहुत ताकतवर साधन है। इस प्रकार, वर्गीय विभेदों को कमतर या श्रेष्ठतर माने जाने वाले मध्यवर्गीय मानकों से एक विचलन के रूप में देखा जाता है। मिसाल के तौर पर, 'संवेदनशील मातृत्व', 'बच्चे को केंद्र में रखना' आदि अवधारणाओं और उस सामाजिक वर्ग के बारे में सोच कर तो देखिए जिस पर उन्हें लागू किया जाता है। वर्ग, जेंडर और सांस्कृतिक असमानताओं को स्वाभाविक और फलस्वरूप अपरिहार्य की तरह दिखाया जाने लगता है। अभिभावकों और बच्चों, पिता और माताओं, शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच बनने वाले सत्ता संबंधों को सिरे से नजरअंदाज कर दिया जाता है। इन सत्ता संबंधों को स्वाभाविक माना जाता है। डेवीज़ (1990) ने वॉकरडाइन और लूसी (1989) का हवाला देते हुए दलील दी है कि जब मध्यवर्गीय मां अपने बच्चों को 'सही चीजों' की इच्छा करना सिखाती हैं और ये यकीन दिलाती हैं कि वे अपनी बिल्कुल निजी, निहायत भीतरी इच्छाओं के आधार पर चीजों का चुनाव कर रहे हैं तो वास्तव में वे उन बच्चों को कम स्वतंत्र बना देती हैं। उनके बच्चे इस बात से वाकिफ नहीं हो पाते कि इच्छा की उनकी 'अपनी' संरचना सामाजिक तौर पर किस तरह बनती है।

हमारे जीवन में आने वाले अन्य पड़ावों के विपरीत किसी भी दी हुई संस्कृति में बचपन की अवधारणा को कानूनों, सामाजिक नियमों और अनकही परंपराओं के जरिए कायम रखा जाता है। यह एक संबंधात्मक श्रेणी है जिसमें बच्चा वह सब कुछ होता है जो वयस्क नहीं होता। वयस्कों में बच्चों जैसे आचरण को एक रोग, एक तरह के प्रतिगामी व्यवहार के रूप में देखा जाता है। वयस्कों के विपरीत बच्चे को कमजोर और निर्भर (हिफाजत का जरूरतमंद), गैर-जिम्मेदार और अज्ञानी माना जाता है जो केवल उपभोग कर सकता है, पैदा कुछ नहीं कर सकता। ये बचपन की कुछ ऐसी मुख्य विशिष्टताएं हैं जो श्वेत मध्यवर्गीय अमेरिकी समाज में प्रचलित हैं (हॉलैंड 1986)। उस समाज की दृश्य संस्कृति (टेलीविजन, चित्र, विज्ञापन आदि) भी इस निर्मिति को ही पुष्ट करती है।

बच्चों की तस्वीरों से संबंधित टाइम-लाइफ बुक (लश 1986) में एक अध्याय 'गैटिंग दि स्पिरिट ऑफ चाइल्डहुड ऑनटू फिल्म' (बचपन की भावना को तस्वीरों में उतारना) के नाम से है। इस शीर्षक को देखकर ही ऐसा लगता है मानो बचपन का कोई भूतहा अनैतिहासिक सार मिलता हो जिसे आपने एक बार तस्वीर में उतार लिया तो काफी है। डोनाल्ड रश का एक तर्क यह है कि पेशेवर बाल फोटोग्राफी ने अपने उत्पादों के जरिए हमेशा बच्चों और बचपन के स्वरूप की मौजूदा विचारधारा को ही पुष्टि और वैधता प्रदान करने का प्रयास किया है। इस विचारधारा के मध्य में यह विश्वास काम करता है कि (क) बच्चों को खेलना तो चाहिए लेकिन कभी काम नहीं करना चाहिए क्योंकि काम वयस्कों की गतिविधि है, तथा (ख) बच्चों के पास कोई यौन ज्ञान नहीं होना चाहिए और जब उन्हें यह ज्ञान मिले तो भी वह नियंत्रित और नीरस तरीकों से ही मिलना चाहिए - मसलन स्कूल में सेक्स एजुकेशन आदि। यानी बचपन एक ऐसी चीज है जिसे सामाजिक रूप से निर्मित और लागू किया गया है। लश का मानना है कि यह वयस्कों द्वारा अपने व्यापक सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर रची गई संस्था है। हॉलैंड (1986) ने अमेरिका में बाल्यावस्था की विचारधारा के निर्माण और पोषण में विज्ञापनों की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण किया है। हॉलैंड का मानना है कि इस तरह की निर्मितियां न केवल वयस्कों और

बच्चों के बीच स्वाभाविक, तर्कसंगत और पूरी तरह वैध दिखाई देने वाले मगर गैर-बराबर संबंधों की स्थापना करती हैं बल्कि वे हमें बाल्यावस्था के बारे में एक सामान्य तस्वीर ग्रहण करने और विशेष परिस्थितियों में रहने वाले विशेष बच्चों के बारे में सोचने से हतोत्साहित भी करती हैं। इस तरह का सामाजिक ज्ञान धीरे-धीरे वास्तविक बच्चों के साथ हमारे अपने आदान-प्रदान का भी हिस्सा बन जाता है।

इस बात को बड़े पैमाने पर माना जा चुका है कि बाल्यावस्था से संबंधित प्रभुत्वशाली विचारधाराओं का रूप-बनाव संस्कृति-विशिष्ट होता है। फिर भी, गैर-पश्चिमी समाजों में बाल्यावस्था विकास के रुझानों से संबंधित जानकारियों या ब्यौरों पर आधारित प्रकाशन बहुत कम हैं। पाठ्यस्रोतों में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कक्कड़ (1980) का कहना है कि भारतीय परंपरा में बच्चा वैचारिक रूप से एक मूल्यवान और स्वागत योग्य मनुष्य है जिसके प्रति वयस्कों को सुरक्षा, प्रेम और पूरा ध्यान देना चाहिए। कक्कड़ की राय में भारतीय परंपरा की विशिष्टता इस बात में नहीं है कि पश्चिमी परंपराओं की तरह वयस्कों और बच्चों के आपसी संबंधों को समाजीकरण के रूप में चित्रित किया जाए बल्कि इसे एक ऐसी अंतर्क्रिया के रूप में दर्शाया जाता है जो वयस्क-बाल इकाई पर जोर देती है। उनके एक हालिया निबंध – 'मॉडर्निटी ऐण्ड फीमेल चाइल्डहुड' (आधुनिकता और लड़कियों का बचपन) में कक्कड़ (1997) का कहना है कि बढ़ते आधुनिकीकरण और परिवार के भीतर भूमिकाओं के आपसी संबंधों में बदलाव की वजह से बच्चों के प्रति सुरक्षात्मक लगाव की परंपरागत विचारधारा गहरे दबाव में पहुंच गई है। भारतीय संदर्भ में बचपन से संबंधित सीमित अध्ययनों की समीक्षा करने के बाद शर्मा (2003 : 42) का निष्कर्ष है कि 'भारतीय बच्चों के बारे में व्यवस्थित दीर्घकालिक आंकड़ों की कमी के साथ-साथ एक परेशानी यह है कि बच्चों को समझने के लिए पश्चिमी विकास मनोवैज्ञानिक श्रेणियों का बिना सोचे-समझे आयात किया जा रहा है।'

आदर्श बाल्यावस्था पर कुछ आपत्तियां

किसी भी संस्कृति में परिवार और राज्य, दोनों ही बच्चे के विकास को तय करने और उसे एक 'आदर्श' बच्चे के रूप में स्थापित करने में जिम्मेदार होते हैं। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में 'निर्धन वर्गों' के बच्चों के लिए शुरू हुआ शिशु विद्यालय आंदोलन; 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का फ्रॉयबेल या किंडरगार्टन आंदोलन; 1920 के दशक में आया नर्सरी स्कूल आंदोलन और 1960-70 के दशकों में नारीवादी आंदोलन द्वारा पेश की गई परिवार के बाहर बच्चों की देखभाल की मांगों ने 'बच्चों की परिधियों' और 'बाल-केंद्रित' शिक्षाशास्त्र का निर्माण किया है (इन धारणाओं की समालोचना के लिए देखें सिंगर 1992)। नीदरलैंड्स में उनके अपने अनुसंधान के निष्कर्षों और विकास मनोवैज्ञानिकों द्वारा बचपन के बारे में पेश किए गए पश्चिमी सिद्धांतों की समालोचना के आधार पर एली सिंगर की दलील है कि बाल विकास का पश्चिमी दर्शन लिंगों, वर्गों, नृजातीय समूहों और पीढ़ियों के बीच बनने वाले सत्ता संबंधों को पूरी तरह नजरअंदाज करता है। अमेरिका का जिक्र करते हुए बर्मन (1997) ने बताया है कि कुछ समय पहले तक विकास मनोविज्ञान में पिता के रूप में पुरुषों पर खास ध्यान नहीं दिया जाता था। विकास संबंधी साहित्य में पिताओं को प्राय: उनकी अनुपस्थिति के जरिए ही दर्शाया जाता

था। इस बात को केवल लैंगिक भूमिका विकास, खासतौर से लड़कों के संदर्भ में ही एक समस्या माना जाता है। लिहाजा, पश्चिम के एकल परिवारों में बच्चों की देखभाल का जिम्मा बुनियादी तौर पर अकसर मां के कंधों पर ही दिखाई देता है। स्कार (1999) का कहना है कि दूसरे विश्व युद्ध के बाद महिला कामगारों को सार्वजनिक क्षेत्र से बेदखल कर दिया गया था ताकि युद्ध से लौटने वाले पुरुषों के लिए नौकरियों की व्यवस्था की जा सके। ब्रिटेन में उसी समय युद्धकालीन डे-नर्सरियों को भी बंद किया जा रहा था। मां के स्पर्श से संबंधित सिद्धांत खूब फले-फूले और दिन भर मां-बाप के संरक्षण से वंचित रहने वाले बच्चों के बारे में नैतिक अफरातफरी बहुत ज्यादा थी। बच्चों को पालने में मांओं की सफलता या विफलता अटलांटिक के दोनों तरफ बहुचर्चित मुद्दा बन गई थी क्योंकि जहां मां नाकाम हो जाती थी वहां राज्य को उचित सेवाओं की व्यवस्था करनी पड़ती थी (अमेरिकी संदर्भ में बच्चों की देखभाल के इतिहास के अन्य विवरणों के लिए देखें, उपरोक्त)।

ब्रिटेन और अमेरिका, दोनों ही देशों में कल्याणकारी 'सहायता' हमेशा चौकसी को और बढ़ा देती थी। इस बात को दर्शाने के लिए सबसे अच्छा उदाहरण एक अमेरिकी राज्य में मिलता है। वहां एक अश्वेत अकेली मां को इस वजह से जेल की सजा सुनाई गई थी क्योंकि उसने अपर्याप्त/असंवेदनशील मातृत्व दिया था। उसका अपराध यह था कि जब उसका बेटा घर में किसी को बताए बिना साइकिल पर बैठ कर घूमने निकल गया और कई घंटे बाद लौटा तो उसने बेटे की पिटाई कर दी थी। ऐन आरनेट फर्ग्यूसन (2002) नामक एक अश्वेत पीएचडी शोधकर्ता ने इस कहानी को अपने फील्ड नोट्स में दर्ज किया था (मूल पाठ में यह कहानी कविता के रूप में 25 पन्नों में थी) जिन्हें बाद में फर्ग्यूसन ने अपनी पुस्तक - *बैड ब्वायज : पब्लिक स्कूल्स इन दि मेकिंग ऑफ ब्लैक मैसक्यूलिनिटी* - में शामिल कर लिया था। क्योंकि उपरोक्त लड़का स्कूल में भी 'सिरदर्द' माना जाता था इसलिए सरकार की दलीलों को और बल मिला। फर्ग्यूसन ने जिस ब्यौरे को 'फील्ड नोट्स' के नाम से छापा था उसका एक संक्षिप्त अंश इस प्रकार है :

ये मेरा बच्चा है

उन्होंने बंदूकें निकाल ली थीं
मैं क्या करती?
ये मेरा बच्चा है!
अब मुझे मेरा बच्चा पालने का सलीका मत बताओ।

उस वक्त मैं उखड़ गई थी। पुलिस वाली
वह उसकी कोहनियां और घुटने जांच रही थी।
वह छिला पड़ा था
लेकिन वो मैंने तो नहीं किया था।

और उन्होंने लिख लिया
उसकी पीठ पर बाल बराबर खरोंच है

इतने इंच लंबी
मेरी हालत तो ...

मैंने वह नहीं किया था
उसकी बहन ने किया था
एक दिन वे लड़ रहे थे
और बहन ने भाई को खरोंच दिया।

उन्होंने पढ़ कर मेरे हक सुनाए।
मेरे हाथ पीठ पर बांध दिए।
हथकड़ियां लगा दी।
और मेरी हालत ...
क्यों?
क्या किया था मैंने?

अपने शोधपत्र में, इस मां और उसके बेटे से बातचीत के आधार पर फर्ग्यूसन ने दलील दी है कि बचपन को वयस्कता से अलग और भिन्न अवस्था के रूप में मानने की प्रचलित दृष्टि - जिसमें बच्चे को वयस्कों वाली चिंताओं से बचाया जाता है - सभी वर्गों के बारे में सही नहीं है। 'एक खराब मोहल्ले' में पलने-बढ़ने का मतलब यह होता है कि बचपन को एक चिंतामुक्त अवस्था के रूप में प्राप्त करने का आदर्श असंभव बन जाता है।

गौरतलब है कि 20वीं सदी में बाल विकास अध्ययनों का केंद्रबिंदु एक अमूर्त एकल बच्चे की जगह संयुक्त मां-बालक इकाई पर इस प्रकार केंद्रित हो गया था कि उसमें मां मनोवैज्ञानिक अनुसंधान का विषय भी थी और माध्यम भी (बर्मन 1997)। इस इकाई के अध्ययन में एक खतरा यह था कि इसमें भी बच्चे के विकास की जिम्मेदारियों में राज्य और परिवार के बीच जाना-पहचाना भेद कायम था (उपरोक्त)। इस अध्ययन में बच्चे और उसकी देखभाल करने वाले - यानी मां - के बीच बनने वाले संबंधों में *सामाजिक* की अवधारणा को संकुचित कर दिया गया था। लिहाजा, निजी-सार्वजनिक का भेद दोबारा पैदा हुआ और व्यक्तिवाद तथा उदार मानववाद की एक ऐसी नई धारा सामने आई जो राज्य को बच्चों की देखभाल की जिम्मेदारी से आजाद कर देती थी। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन अश्वेत लोगों के जीवन में श्वेत मध्यवर्गीय स्थितियां नहीं थीं, उनमें से ज्यादातर को ऐसे देखा जाने लगा मानो वे बीमार लोग हों। बाल्यवस्था की परिधियों यानी आवास, स्कूल भवन और स्कूल के समय, तथा मनोरंजन की परिधियों आदि को नियंत्रित करते हुए राज्य किसी भी समाज में बाल्यावस्था की मुख्यधारा की विचारधारा को भी प्रभावित करता है। कुछ शोधकर्ताओं का कहना है कि राज्य बाजार को भी नियंत्रित करता है जिसमें बाल्यावस्था का निर्माण और उपभोग किया जाता है (वार्ड 1990, नुईवेनहुईस 1999ए में उद्धृत)।

निराश्रित/सड़कों पर पलने वाले बच्चे

'निराश्रित बच्चों' की अवधारणा की आलोचना करते हुए नुईवेनहुईस (1999ए) ने 'वैश्विक बाल्यावस्था एजेंडा' पर भी चर्चा की है जो अंतर्राष्ट्रीय बाल कल्याण संस्थानों (यूनेस्को, यूनिसेफ, डब्ल्यूएचओ, आईएलओ) की देन है। उनका कहना है कि ये एजेंसियां बाल्यावस्था के जिन आधुनिक आदर्शों को प्रोत्साहन देती है वे एकल परिवार और राष्ट्र राज्य की मार्फत बनने वाले बाल्यावस्था के बाजार पर आधारित थे। उदाहरण के लिए, बीसवीं सदी की शुरुआत में अमेरिका में बाल्यावस्था का मतलब था कि बच्चों को श्रम से बाहर निकाला जाए और उन्हें मांओं की देखभाल का उपभोक्ता बनाया जाए। यह अवधारणा स्वास्थ्य बीमा और तमाम मनोवैज्ञानिक, बाल चिकित्सकीय एवं शैक्षणिक सहायताओं और विशेषज्ञताओं तक फैली हुई थी (ज़ैलीज़र 1994)। 1960 के दशक तक यूनिसेफ भी राष्ट्र राज्यों को साफ-सफाई, पोषण और टीकाकरण अभियानों के जरिए शिशु मृत्यु दर पर अंकुश लगाने में मदद देता था। उसका फोकस मुख्य रूप से ग्रामीण इलाकों पर रहता था। सत्तर के दशक तक आते-आते यह स्पष्ट हो गया कि जिस तरह के आधुनिकीकरण पर जोर दिया जा रहा था वह मुट्ठी भर प्रभु वर्ग और दिनोंदिन फैलते हाशियाई गरीबों के ध्रुवीकरण को नहीं रोक सकता। जहां एक तरफ हाशियाई तबके उपभोग की परिधि से बाहर थे वहीं दूसरी तरफ शहरों ने आसानी से उस परिष्कृत व्यवहार को अपना लिया जो बचपन को उपभोग के एक प्रतिष्ठित क्षेत्र में बदल देता था। नुईवेनहुईस (1999ए) का कहना है कि बचपन से संबंधित प्रतिष्ठापूर्ण वस्तुओं और सेवाओं को हासिल करने की चाह केवल औद्योगिक उत्तरी देशों तक ही सीमित नहीं थी। दक्षिणी देशों के शहरों में भी इसे अच्छी प्रतिक्रिया मिली। इसने शहरों की जीवन शैली तथा गरीबों के उन हालात के बीच फासला और बढ़ा दिया जिसमें गरीब अपने बच्चों को पाल रहे थे।

अस्सी और नब्बे के दशकों में बाहर से थोपे गए ढांचागत समायोजन कार्यक्रमों के जवाब में कथित विकासशील देशों के ज्यादातर राज्यों ने अपने कल्याण कार्यक्रमों को छोड़ दिया और सारा जोर अपना जीएनपी बढ़ाने में लगा दिया। विकासशील देशों ने शहरों का 'विकास' करके अर्थव्यवस्थाओं को मजबूत बनाने का लक्ष्य हासिल किया। इसकी वजह से नौकरियों की तलाश में बड़े पैमाने पर लोग शहरों की तरफ पलायन करने लगे। सड़कों पर गरीबों के बच्चों की भीड़ बढ़ती गई जो कुली, सब्जी-भाजी वाले या कारों की साफ-सफाई के कामों में शहरी अर्थव्यवस्था में अपना हिस्सा ढूंढ रहे थे। जब ये मामूली कमाई वाले काम-धंधे भी नहीं बचे तो उन्हें भीख मांग कर या वेश्यावृत्ति के जरिए जीने के लिए मजबूर कर दिया गया। जैसे-जैसे उत्तर-दक्षिण के आर्थिक संबंध कठोर होते गए यह स्पष्ट होता गया कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को 'विकास' का सवाल अभी भी अपने एजेंडा पर सबसे ऊपर रखना होगा। नुईवेनहुईस (उपरोक्त 39) के मुताबिक, इस काम के लिए न केवल नैतिकता की दुहाई दी गई बल्कि मानवाधिकारों, सहृदयता और परोपकार जैसे मूल्यों का भी सहारा लिया गया। लेकिन अब गरीबी के स्रोतों पर ध्यान देना महत्वपूर्ण नहीं रहा। उसकी जगह धीरे-धीरे निरोधक 'मानवतावादी' प्रयासों ने ले ली थी। यही वह समय था जब गैर-सरकारी संगठन विकास के क्षेत्र में (निराश्रित बच्चों के संदर्भ में) दाखिल हो रहे थे। गैर-सरकारी संगठनों की इस आमद का एक फायदा ये था कि दक्षिण के देशों में

विदेशी सहायता प्रयासों को लागू करने के लिए सरकार पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं थी क्योंकि उसे अकुशल, खर्चीला और अविश्वसनीय साधन मान लिया गया था (और विवरण के लिए देखें, उपरोक्त)। क्योंकि गैर-सरकारी संगठन बच्चों की पूरी आबादी को सुरक्षा प्रदान करने के सरकारी लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकते थे इसलिए दक्षता का विचार पेश किया गया जो बच्चों से संबंधित उन नव-उदारवादी अवधारणाओं से उपजा था जिनमें बच्चों को सुरक्षा की आवश्यकता से मुक्त अपना खयाल रखने में सक्षम व्यक्तियों के रूप में देखा जाता था। इस धारणा को केवल तभी बल मिल सकता था जब सहायता के लिए चुने गए निराश्रित बच्चों को 'दक्षता' और 'आहत मासूमियत' (नुईवेनहुईस ने 'कॉम्पीटेंस' और 'असॉल्टेड इनोसेंस' शब्दों का इस्तेमाल किया है) के मिश्रण के रूप में पेश किया जाए। अर्थात, ये दिखाया जाए कि वे इतने कुशल हैं कि सीमित सेवाओं से भी काफी लाभ उठा सकते हैं। लिहाजा, उनके लिए औपचारिक की जगह अनौपचारिक स्कूलिंग, भोजन और कपड़ों की जगह काम और कर्जे, और संस्थागत सहायता की जगह गैर-संस्थायी सेवाएं ही काफी थीं। जैसा कि नीचे उद्धृत अपील से पता चलता है, वैश्विक गरीबी के प्रति इस नए उपभोक्तावादी रवैये में लगाव और नैतिकता ही मुख्य बातें थीं (यह अपील 2002 में *दि गार्जियन* और सेव दि चिल्ड्रन फाउंडेशन, ब्रिटेन द्वारा संयुक्त राष्ट्र अधिवेशन के मौके पर बच्चों के बारे में तैयार किए गए एक विशेष दस्तावेज का हिस्सा थी।)

> दुनिया भर में जिंदगी बहुत सारे बच्चों के लिए एक जोखिम है। कुछ देशों में बच्चों के पास सुखी, स्वस्थ, सुरक्षित और शिक्षित होने के मौके ज्यादा होते हैं। कुछ देशों में स्थिति अलग है। यही कारण है कि बाल जोखिम उपाय (सीआरएम) विकसित किए गए हैं (यूनिसेफ द्वारा 1999 में इकट्ठा किए गए आंकड़ों के आधार पर) जिनमें जन्म से 18 साल की उम्र तक के दुनिया के सारे बच्चों के कल्याण पर ध्यान दिया गया है...। इन गणनाओं के हिसाब से सबसे खराब 20 देश नक्शे पर चिन्हित किए गए हैं...। यहां साफ देखा जा सकता है कि कुछ महाद्वीप औरों से बेहतर हैं। मिसाल के तौर पर, इनमें से ज्यादातर देश उप-सहारा अफ्रीका के हैं जबकि यूरोपीय देशों में युद्ध के बाद भी, मसलन, यूगोस्लाविया में, बच्चे काफी बेहतर प्रदर्शन कर रहे हैं।
>
> अगर आप माहवार सिर्फ 3 पौंड की मदद करें तो बहुत सारे बच्चों के लिए बेहतर जिंदगी हकीकत बन सकती है।

यहां बाल जोखिम उपायों की गणना के फार्मूले पर सवाल उठाने की जरूरत नहीं है। इस चर्चा के लिए जरूरी बात यह है कि इस तरह के उपाय दुनिया भर में बचपन के अनुभवों की विशिष्टताओं को पोंछ देते हैं।

एम ब्लैक द्वारा लिखित पुस्तक *चिल्ड्रेन फर्स्ट : दि स्टोरी ऑफ यूनिसेफ, पास्ट ऐण्ड प्रेजेंट* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996) में बताया गया है कि यूनिसेफ में काम करने वाले विशेषज्ञ 'संपूर्ण बच्चे' की जरूरतों का आकलन करते हैं। ब्लैक द्वारा लिखी गई कहानी के ब्यौरों में जाना इस पर्चे के हिसाब से

उपयुक्त नहीं होगा इसलिए यहां एक खास समय पर बचपन की एक निश्चित छवि को परिभाषित करने में अंतर्राष्ट्रीय बाल कल्याण एजेंसियों द्वारा निभायी गई भूमिका का संक्षिप्त ब्यौरा ही काफी होगा।

1960–61 में यूनिसेफ ने 'बच्चों की जरूरतों' पर एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया था। इसमें डब्ल्यूएचओ (स्वास्थ्य संबंधी आवश्यकताओं) एफएआई (पोषण संबंधी आवश्यकताओं), यूनेस्को (शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं), आईएलओ (प्रशिक्षण संबंधी आवश्यकताओं) और संयुक्त राष्ट्र सामाजिक मामले ब्यूरो (समाज कल्याण संबंधी आवश्यकताओं) से भी मदद ली गई थी। माना जाता है कि राष्ट्रीय विकास योजनाओं के संदर्भ में 'संपूर्ण बच्चे' की जरूरतों पर जोर देने वाले इस सर्वेक्षण की रिपोर्ट ने दुनिया के बच्चों की मदद के बारे में यूनीसेफ के नजरिये को क्रांतिकारी रूप से बदल दिया था। सत्तर के दशक में यूनिसेफ ने गैर–औपचारिक शिक्षा के लिए स्कूलों का एक अध्ययन किया। इसकी रिपोर्ट को 'बनने के लिए सीखना' (लर्निंग टू बी) का नाम दिया गया था। इस दस्तावेज से 'मूलभूत शिक्षा' (बेसिक एजुकेशन) की अवधारणा सामने आई। यह मूलभूत शिक्षा प्रत्येक बच्चे के लिए जरूरी रवैये, निपुणताओं और ज्ञान का न्यूनतम पैकेज थी। इसमें सीखने के प्रति सकारात्मक रवैये; मूलभूत साक्षरता और अंक ज्ञान; पर्यावरण की वैज्ञानिक समझदारी; परिवार के पालन–पोषण, घर चलाने और आजीविका के लिए कामकाजी ज्ञान को शामिल किया गया था। जैसा कि ब्लैक बताते हैं, इस पैकेज के सबसे मुख्य ग्राहक वे लोग थे जो स्कूल नहीं जा पाए थे या बीच में ही पढ़ाई छोड़ चुके थे। इनमें से ज्यादातर महिलाएं थीं।

अस्सी के दशक शुरू हुए में कर्ज और समायोजन प्रभावों के चलते विकासशील देशों में शिक्षा पर होने वाले खर्चे में भारी गिरावट आई है। इस बार फिर यूनीसेफ ने बच्चों की उत्तरजीविता और प्रारंभिक बाल्यवस्था शिक्षा के बारे में जानकारियों के प्रचार–प्रसार पर जोर दिया। बाल स्वास्थ्य विशेषज्ञों के साथ सलाह–मशविरे के आधार पर 'जीवन के लिए तथ्य' (फैक्ट्स फॉर लाइफ) के नाम से एक दस्तावेज तैयार किया गया। अस्सी पन्नों के इस दस्तावेज में जन्म का समय तय करने, सुरक्षित मातृत्व, स्तनपान, बाल विकास, टीकाकरण, पेचिश, मलेरिया और एड्स के बारे में जानकारियां दी गई थीं। यह दस्तावेज इस ज्ञान को लोगों तक पहुंचाने वाली शैक्षणिक प्रक्रियाओं के लिए एक शॉर्टकट था। 1989 में प्रकाशित 'जीवन के लिए तथ्य' इतनी सफल रही कि उसके पहले संस्करण की पांच भाषाओं में 2,75,000 प्रतियां साल भर के भीतर बिक चुकी थीं (विवरण के लिए देखें, यूनिसेफ 1991)। इसका दूसरा संस्करण 1993 में आया। इस बार 176 भाषाओं में 90 लाख से ज्यादा प्रतियां छापी गईं। बताया जाता है कि 1995 तक आते–आते 200 भाषाओं में इसकी 1 करोड़ से ज्यादा प्रतियां छप चुकी थीं। नए संस्करण में प्रारंभिक बाल्यावस्था विकास पर एक अध्याय अलग से जोड़ा गया था। इस दस्तावेज को बहुत सारे देशों के स्कूली पाठ्यक्रम में भी शामिल किया गया। मिसाल के तौर पर, बंगलादेश रूरल एडवांसमेंट कमेटी (बीआरएसी) ने प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था से बाहर छूट गए बच्चों के लिए एक गैर–औपचारिक शिक्षा कार्यक्रम लागू किया जो काफी सफल रहा। बीआरएसी ने बंगलादेश के बच्चों की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस पैकेज में दी गई जानकारियों का अपने हिसाब से इस्तेमाल किया

था। 22 ग्रामीण समुदायों में बीआरएसी द्वारा चलाए गए प्रायोगिक स्कूलों में 70 प्रतिशत लड़कियां थीं (ब्लैक 1996 : 231)।

यहां गौर करने वाली बात यह है कि 'मानक बच्चा' और 'आदर्श बचपन' जैसे विचार अंतर्राष्ट्रीय सहायता एजेंसियों द्वारा निर्धारित और प्रसारित होते हैं ताकि वे अपने अनुदानों के वितरण और निगरानी पर ध्यान रख सकें। यूनिसेफ की इस कहानी से दो और बातें निकल कर आती हैं। पहली, क्योंकि हर बच्चा आदर्श बचपन नहीं जी सकता इसलिए राज्य को ऐसे बच्चों की शिक्षा के लिए शॉर्टकट सोचने होंगे जो इस खाके में नहीं समाते। इस वैकल्पिक शैक्षणिक पैकेज का स्वरूप इस बात पर निर्भर करेगा कि लाभान्वितों में ज्यादातर लड़कियां हैं या लड़के (यूनिसेफ द्वारा तैयार किए गए 'मूलभूत शिक्षा' के न्यूनतम पैकेज में परिवार का पालन–पोषण करने और परिवार चलाने से संबंधित ज्ञान इसीलिए दिया गया था क्योंकि पहले से यह तय था कि इस कार्यक्रम का लाभ उठाने वाले विद्यार्थियों में से ज्यादातर लड़कियां होंगी)। चुनांचे, गौर करने वाली दूसरी बात यह थी कि खासतौर से दक्षिण के देशों में बचपन एक खास लैंगिक छवि से बंधा होता है।

न केवल स्कूल में खराब प्रदर्शन के पीछे बल्कि बच्चों को भिक्षावृत्ति और सड़कों पर काम करने के लिए बाध्य करने के पीछे प्रारंभिक बाल्यावस्था देखभाल की कमी काफी महत्वपूर्ण होती है। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए एक नीति तैयार की गई जिसका दुनिया भर के बच्चों की जिंदगी पर भारी असर पड़ा। फलस्वरूप 1989 में संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार कनवेंशन (सीआरसी) पारित किया गया जिस पर भारत सहित 190 से ज्यादा देशों ने दस्तखत किए थे (*उपरोक्त* : 226)। इस कनवेंशन में 18 साल से कम उम्र के व्यक्ति को 'बच्चा' के रूप में परिभाषित किया गया था। दुनिया की सरकारों में से ज्यादातर इस बात पर सहमत थीं कि बच्चों को किन चीजों का अधिकार है तथा राज्यों और देखभाल करने वालों की क्या जिम्मेदारियां होती हैं। इस सहमति को इस तरह से सूत्रबद्ध किया गया है कि उत्तरजीविता और विकास से लेकर सुरक्षा और सहभागिता तक बच्चे के जीवन के सारे सरोकारों को 'आदर्श' रूप में अभिव्यक्त और रेखांकित किया गया है (बिसेल 2003 : 51)।

इस चर्चा से स्पष्ट है कि 'विशेषज्ञ' (मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्ता और बाल कल्याण अधिकारी) शहरी बचपन के एक खास मॉडल को ध्यान में रखते हैं। यह ऐसा मॉडल है जो घर के सुरक्षित वातावरण पर आधारित है। उसमें एक पत्नी या मां की लगातार उपस्थिति और कारखानों, दफ्तरों, स्कूलों और दुकानों की शृंखला के अनुरूप एक दैनिक रूटीन अनिवार्य है। एक सही बचपन की व्यवस्था को साकार करने के लिए ये सारे तथ्य अनिवार्य हैं क्योंकि बाल्यावस्था का बाजार घर और स्कूल में केंद्रित होता है (नुईवेनहुईस 1999 ए)। सामाजिक पहचान के निर्धारण में बुनियादी महत्व रखने वाले विपुल लोक (स्थानीय) ज्ञान को बचपन के महत्वपूर्ण तत्व के रूप में विरले ही कभी जगह दी जाती है। उदाहरण के लिए, फर्ग्यूसन (2001) ने बहुत प्रभावी ढंग से इस बात को स्पष्ट किया है कि गरीबों के बच्चे एक खास भौतिक एवं सामाजिक परिवेश में अपने ज्ञान, प्रेक्षण और व्यवहार से लोक ज्ञान अर्जित करते हैं। क्योंकि इस सीख का इस्तेमाल और विकास ठोस परिस्थितियों में होता है इसलिए इन बच्चों के लिए यह शिक्षा स्कूली ज्ञान के मुकाबले ज्यादा उपयोगी प्रतीत होती है। यही ज्ञान और

उसकी संरचनाएं उस व्याख्यात्मक खाके के रूप में काम करती हैं जिनके जरिए हाशियाई पृष्ठभूमि के बच्चे अपनी मुठभेड़ों, व्यवहारों, स्कूली अनुष्ठानों, पाठ्यचर्या और प्राधिकार को समझना सीखते हैं (देखें स्टीडमान 1997)। गरीबों के बच्चों को आधुनिकता के लिए निर्णायक महत्व रखने वाले बाल्यावस्था प्रतीकों को अर्जित करने के लिए प्रेरित करने की बजाय हमें उन निरूपणों को बेपर्द करना चाहिए जो उनके जीवन की महत्वपूर्ण चीजों का निषेध करते हैं (नुईवेनहुईस 1999ए)। बर्मन (1995) ये भी मानते हैं कि इन निर्मितियों के पीछे छिपे मध्यवर्गीय मानकों पर भी सवाल उठाया जाना चाहिए। इसके लिए ऐसे अध्ययन होने चाहिए जो बाल्यावस्था के वृहत्तर सांस्कृतिक निरूपणों को सामने लाएं।

बाल्यावस्था के अंतर्सांस्कृतिक निरूपण

मयाल (1999) ने बच्चों और बचपन से संबंधित समझदारियों के कुछ विकल्प पेश करने के उद्देश्य से नए प्रयासों पर चर्चा की है। खासतौर से उन्होंने 16 औद्योगिक देशों में किए गए एक व्यापक अध्ययन का वर्णन किया गया है जो बच्चों की स्थिति से संबंधित है। इस अध्ययन में बच्चों की वैधानिक और सामाजिक–आर्थिक स्थिति, पीढ़ियों के बीच संसाधनों के बंटवारे और बच्चों की गतिविधियों पर ध्यान दिया गया है। ब्रिटेन में शुरू की गई इस परियोजना की मूल प्रस्थापना यह है कि बच्चा कोई प्राकृतिक श्रेणी नहीं होता बल्कि बच्चा क्या है और बचपन को कैसे जिया जाता है, ये बातें वयस्कों के तौर–तरीकों, उद्देश्यों और संस्कृतियों से निर्धारित होती हैं।

आनंदलक्ष्मी और बजाज (1981, वीरूरू 2001 में उद्धृत) ने वाराणसी के मोमिन अंसारी समुदाय के बच्चों की जिंदगी का मानवशास्त्रीय अध्ययन किया था। उन्होंने उत्तर भारत के इस रेशम बुनकर समुदाय के 209 बच्चों का अध्ययन किया। शोधकर्ताओं का कहना था कि इस समुदाय में चार साल की छोटी–छोटी लड़कियों की आवाजाही भी नियंत्रित होती है। उन्हें मोहल्ले के केवल परिचित परिवारों में जाने की छूट होती है। उन्हें घर में ही रहने और घरेलू काम सीखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। 6 साल की उम्र तक ज्यादातर लड़कियां साफ–सफाई, बर्तन धोना और भाई–बहनों की देखभाल करना सीख जाती हैं। 9 साल की उम्र में उन्हें बिना पर्दे बाहर जाने की छूट नहीं मिलती। 13 या 14 साल की उम्र में यानी यौवनारभ/प्यूबर्टी पर पहुंचने के कुछ समय बाद ही उनको ब्याह दिया जाता है। शादी लड़कियों के बचपन का औपचारिक समापन होती है। इसके विपरीत लड़कों को तीन या चार साल की उम्र से बुनाई की कला सिखानी शुरू कर दी जाती है। 10 साल की उम्र तक ज्यादातर लड़के किसी कुशल बुनकर के पास काम करने लगते हैं। 13–14 साल की उम्र तक सभी लड़के स्वतंत्र रूप से बुनाई करना शुरू कर देते हैं। लड़कों को समुदाय के धार्मिक जीवन से भी परिचित कराया जाता है। उनमें से कुछ मदरसों (धार्मिक स्कूल) में भी जाते हैं।

वीरूरू (2001) ने भारतीय परिवेश से संबंधित कुछ अन्य अध्ययनों का उल्लेख करते हुए 'वयस्क–बच्चा नैरंतर्य' (कुमार 1993) को भारतीय संदर्भ में बाल्यवस्था का विशिष्ट पहलू बताया है। इस अवधारणा की कृष्ण कुमार द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार दैनिक जीवन में बच्चे को वयस्क परिधि का हिस्सा माना जाता है। यह बात सभी सामाजिक वर्गों के बारे में सही दिखाई देती है। खासतौर

से कृषि अर्थव्यवस्था के संदर्भ में कुमार का तर्क है कि वयस्क-बच्चा नैरंतर्य अर्थव्यवस्था में आए बदलावों से प्रभावित हुआ है। उन्होंने इस बात का खासतौर से उल्लेख किया है कि ग्रामीण बेरोजगारी ने काम की तलाश में बड़े पैमाने पर शहरों की ओर पलायन को बढ़ावा दिया है और हो सकता है कि इससे भी बच्चे की दुनिया में पारिवारिक वयस्कों की संख्या कम हुई है।

कुमार का कहना है कि समकालीन शहरी भारत में दो परस्पर विरोधी ताकतें बच्चे के समाजीकरण को प्रभावित करती हैं : एक तरफ तो परिवार और दूसरी तरफ स्कूल, मीडिया व बाजार।

ताकेई (1999) ने आंध्र प्रदेश के एक गांव में किए गए अपने अध्ययन का उल्लेख किया है। इस अध्ययन के जरिए बच्चों के 'जीवन जगत' में उनके द्वारा किए जाने वाले कामों और स्कूली शिक्षा पर उनके असर को समझना चाहते थे। 1994 से 1997 के बीच ताकेई ने जो अध्ययन किया है उससे पता चलता है कि इस गांव के बच्चे इस तरह के काम करते थे : पानी लाना, मवेशियों की देखभाल करना, खाना बनाना, खेती के काम और अन्य (भाई-बहनों की देखभाल आदि)। इस गांव के बच्चों द्वारा किया जा रहा काम उनके समाज की जीवन संरचना में गहरे तौर पर गुंथा हुआ था, यह उनके समाजीकरण का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था, इससे परिवार को केवल अप्रत्यक्ष रूप से मदद मिल रही थी (क्योंकि इनमें से किसी भी काम के लिए कोई वेतन नहीं दिया जाता)। ताकेई का तर्क है कि इन बच्चों के काम को 'बाल श्रम' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। क्योंकि काम का स्वरूप पूरे तौर पर स्थानीय समाज की संरचना और जीवन शैली पर आधारित है इसलिए हमें इस तरह के कामों से स्कूलिंग पर पड़ने वाले प्रभावों को समझने के लिए इस समाज की जीवन शैली का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। ताकेई के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वयस्क या बच्चे के जीवन जगत का स्कूल की दुनिया से कोई संबंध नहीं होता। यहां तक कि स्कूल में पढ़ाए जाने वाले सबकों में भी दोनों अलग-अलग जगत होते हैं। दूसरी तरफ मध्यवर्गीय शहरी पृष्ठभूमि के बच्चे साफ देख सकते हैं कि उनके जीवन के कई आयाम उनकी पाठ्यपुस्तकों में भी प्रतिबिंबित होते हैं।

बच्चों के काम और स्कूलिंग के आपसी संबंधों की पड़ताल करने वाले एक और अध्ययन का हवाला नुईवेनहुईस (1999बी) ने दिया है। केरल के मजदूर वर्गीय बच्चों के एक समूह का अध्ययन करते हुए उन्होंने बताया है कि अपने परिवार के सदस्यों के साथ काम (मछली पकड़ना और जुट की रस्सियां बनाना) करने वाले बच्चों के जीवन में स्कूल और काम के बीच टकराव नहीं है। लेकिन उन्हें ऐसा लगता है कि परिवार में बच्चों की भूमिका को लेकर वयस्कों के रवैये और आकांक्षाओं को समझने के लिए और अध्ययन जरूरी है।

सुज़ेन बिसेल (2003) ने 1997-98 के दौरान ढाका, बंगलादेश के परिधान उद्योग में काम करने वाले 7-14 साल की उम्र के 225 बच्चों के बारे में इकट्ठा किए गए आंकड़ों की चर्चा की है। यह मानवशास्त्रीय अध्ययन बच्चों के जीवन अनुभवों और बाल्यावस्था की उनकी परिभाषाओं एवं छवियों पर केंद्रित था। बिशेल मानती हैं कि बंगला भाषा में बाल्यावस्था (चाइल्डहुड) के लिए कोई एक शब्द/वाक्यखंड नहीं है। ज्यादातर बच्चे इस बात को समझते हैं कि उनके जीवन में स्वायत्तता कम है।

उनके लिए विवाह बचपन की सीमा को पार कर लेने का एक संस्कार है। अध्ययन में लिए गए बच्चों ने अपने परिवारों को सहारा देने, सीखने और खेलने जैसी जरूरतों का उल्लेख किया था। हारकिन बिल का उल्लेख करते हुए बिशेल बताती हैं कि अमेरिकी व्यापारिक पाबंदियों की धमकी के कारण दुनिया भर में निर्यातोन्मुखी उद्योगों से बच्चों को हटा दिया गया है। इसका एक नतीजा यह हुआ कि बंगलादेश के लगभग 10,000 बच्चे ऐसे स्कूलों में जाने लगे जिन्हें खासतौर से उनकी जरूरतों को ध्यान में रखकर बनाया गया था। दूसरी ओर 50,000 से 2,00,000 बच्चे ऐसे थे जो इस घटनाक्रम की वजह से आजीविका का अपना सबसे आकर्षक विकल्प गंवा बैठे थे। बिशेल इस घटना को इस बात का उदाहरण मानती हैं कि बचपन की वैश्विक सामाजिक निर्मिति राष्ट्रीय और स्थानीय सरोकारों को कितना कमजोर कर देती हैं। उनका निषकर्ष है कि सामाजिक नीति के तत्वों को बच्चों की सक्रिय सहभागिता के आधार पर तय किया जाना चाहिए और उन्हीं के माध्यम से लागू किया जाना चाहिए। उनका एक निष्कर्ष यह है कि इस तरह की सामाजिक नीतियों को निर्धारित करने में हमें जीवन परिस्थितियों, परिवार, समुदाय और राष्ट्रीय उद्देश्यों पर विचार करना चाहिए।

भारत में क्षेत्रीय, धार्मिक और जातीय पहचानों की बहुलता बचपन की कई छवियों को जन्म देती है। फिर भी, हमारे पास बचपन की जिस छवि के बारे में सबसे ज्यादा जानकारियां हैं वह हिंदू धर्म से ही संबंधित हैं (वॉल्श 2003)। यही वह छवि है जो पाठ्यपुस्तकें लिखने वालों और नीति निर्माताओं के जहन में होती है। यही वह छवि है जो बाल कल्याण पेशेवरों और संगठनों को प्रेरित करती है (अन्वेषी 2003)।

इलैया (1996) ने अपनी पुस्तक *व्हाई आई एम नॉट ए हिंदू (मैं हिंदू क्यों नहीं हूं)* में *कुरुमा* समुदाय में लड़कों और लड़कियों के जातीय प्रशिक्षण का जिक्र किया है। इस समुदाय के छोटे-छोटे लड़कों को भेड़ पालन गतिविधियों की भाषा सिखाई जाती है। वे सीखते हैं कि अलग-अलग भेड़ों को कैसे पहचाना जाता है; भेड़ों को किस तरह की बीमारियां हो सकती हैं; उन बीमारियों का कौन सी वनस्पतियों से इलाज किया जा सकता है; भेड़ों के प्रसव के समय क्या करना चाहिए; उन्हें किस तरह की घास खिलानी चाहिए; और भेड़ों की ऊन कैसे उतारी जाती है आदि। लड़कियों को सिखाया जाता है कि बच्चों की देखभाल कैसे करें; मिर्च की पिसाई कैसे होती है, धान कूटना, ऊन और कांटों को अलग-अलग करना, ऊन से धागा बनाना; और मिट्टी के कच्चे बर्तनों में खाना बनाने का क्या ढंग होता है, आदि। इलैया के विवरण से किसी खास सामाजिक वर्गीय/जातीय समूह में लैंगिक भूमिकाओं के विकास की अंतरंग झलक मिलती है। उनके विवरण से पता चलता है कि इसी तरह की गतिविधियां मनोवैज्ञानिक स्वबोध का विकास करती हैं। लेकिन, जैसा कि स्टीडमान (1997) ने भी कहा है, गैर-प्रभुत्वशाली समुदायों के विवरण और अनुभव कभी अधिकृत दस्तावेजों (जैसे बाल मनोविज्ञान की पाठ्यपुस्तकें या नीति दस्तावेज) में दाखिल नहीं हो पाते।

गरीब परिवारों के बच्चे खुद महसूस करते हैं कि 'काम' उनके दैनिक जीवन का हिस्सा है और उन्हें दो वक्त की रोटी जुटाने में हिस्सा बंटाना चाहिए। आंध्र प्रदेश में हैदराबाद स्थित नलसार लॉ यूनिवर्सिटी द्वारा

बाल अधिकार संधि (सीआरसी) पर 2001 में तैयार की गई रिपोर्ट में एक बॉक्स का शीर्षक था – 'हमें काम क्यों नहीं करना चाहिए?' इसमें एक छोटे से स्कूली लड़के ने कहा था :

> स्कूल से लौट कर हम काम क्यों न करें? तीन बजे के बाद हम क्या करें? मैं तीन साल की उम्र से ही मां-बाप के साथ खेतों में जाने लगा था। मैं गाय-भैंस और बकरियां चराता हूं। जब मैं उनके साथ जाता हूं तो मैं खेती-बाड़ी के ऐसे काम सीख लेता हूं जिनके लिए बच्चों को 15 रुपए प्रति घंटा मिल जाता है (बड़ों को 20 रुपए प्रति घंटा मिलता है)। अगर मैं ये सब ना करूं तो क्या पता मैं खेती करना भी भूल जाऊं और पढ़ाई से भी मुझे कोई आमदनी न हो।

वॉल्श ने दिखाया है कि अंग्रेजी शिक्षा ने आजादी से पहले (1870-1947) भारतीय बचपन को किस तरह बदल दिया था। वह बताते हैं कि ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में बचपन की जो नई संरचनाएं और अनुभव सामने आए वे स्वतंत्र शहरी भारत में पलने-बढ़ने वाले भारतीय बच्चों की जिंदगी का एक स्थायी हिस्सा बन चुके हैं। लिहाजा, आज के बच्चे अभी भी एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था से जूझ रहे हैं जो परिवार और समुदाय से स्वतंत्र चलती है। वे अभी भी एक कॉस्मोपॉलिटन आधुनिकता अर्जित करने के संघर्ष में व्यस्त हैं। अगले हिस्से में मैं इस बात पर विचार करूंगी कि किस तरह अधिकारों का विमर्श भी इन संघर्षों की उपेक्षा करता है और उसके स्थान पर इस तरह के प्रयासों से स्कूलिंग व शिक्षाशास्त्र पर पड़ने वाले नकारात्मक निहितार्थों की उपेक्षा करके एक 'आदर्श बचपन' को स्थापित करता है।

स्कूलिंग और शिक्षाशास्त्र के लिए निहितार्थ

सभी बच्चे अपने जीवन में विभिन्न अवसरों पर वयस्कों के अनुकूल मानी जाने वाली जिम्मेदारियों के संपर्क में आते हैं। फलस्वरूप, वे अपने बचपन को अलग-अलग तरीकों से अनुभव करते हैं। जो लोग बाल अधिकार के नजरिये की वकालत करते हैं वे बचपन को अनुभव करने में आने वाली इन भिन्नताओं और उनसे बच्चों में पैदा होने वाले आत्मबोध पर ध्यान नहीं दे पाते। जो बच्चे काम के वयस्क जगत में हिस्सेदारी करते हैं (भले ही उन्हें वेतन न मिलता हो) उनको इस तरह के बच्चों के रूप में दर्शाया जाता है जो अपनी मासूमियत खो चुके हैं और जिनका बचपन छिन चुका है, जो अभागे हैं (ब्लैन्शेट 1996, बिशेल 2003 में उद्धृत)। लोक नीतियों के विशेषज्ञ मानते हैं कि ये बच्चे जिस तरह का श्रम करते हैं वह एक शिक्षा के रूप में उन्हें आगे बढ़ा रहा है और यह शिक्षा मध्य वर्ग के गैर-कामकाजी बच्चों को मिलने वाली शिक्षा के समकक्ष होती है (सेंटर फॉर पब्लिक पॉलिसी स्टडीज 1993; वजीर 2000)। नवंबर 1989 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा पारित और दिसंबर 1992 में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत की गई बाल अधिकार संधि (सीआरसी) में कहा गया है कि 18 साल से कम उम्र का कोई भी मनुष्य बच्चा होता है और सीआरसी में दिए गए बच्चों के आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अधिकारों को लागू करने के लिए सभी सरकारें उचित कानूनी, प्रशासकीय एवं अन्य कदम उठाएंगी। इस बात के लिए सरकारों पर कोई दबाव नहीं है कि वे विभिन्न समुदायों के लिए इन

अधिकारों के अर्थ और निहितार्थों को भी समझें। आर्चर्ड (1993) बताते हैं कि कोई समाज अपने बच्चों के बारे में किस तरह सोचता है और अगर उन्हें अधिकार दिए जा सकते हैं तो उन अधिकारों के बारे में किस तरह से फैसले लेता है, यह बात उस 'समाज' पर निर्भर करती है।

दीप्ता अचर (1999) ने अपने एक अप्रकाशित लेख में दलील दी है कि स्कूली शिक्षा एक कल्पित शहरी, सवर्ण, उच्चवर्गीय, हिंदू, लड़के के रूप में निरूपित एक 'राष्ट्रीय बच्चे' पर केंद्रित और उसके इर्द-गिर्द ही निर्मित है। औपनिवेशिक शिक्षा इस विचार पर आधारित थी कि घर नहीं बल्कि स्कूल ही वह दायरा होता है जहां औपनिवेशिक विषयों को लागू किया जाएगा। भारतीय बालक के निर्माण को परिवार/समाज के जिम्मे नहीं छोड़ा जा सकता था। इस प्रकार सरकारी/सरकार द्वारा वित्तपोषित स्कूल बच्चे के ऊपर एक अभिभावकीय सत्ता का प्रदर्शन करते थे और परिवार तथा निजी क्षेत्र के असर को न्यूनतम सीमा में रखना चाहते थे। लेकिन स्वतंत्रता के बाद हुए राष्ट्रीय प्रयासों में बच्चे के लालन-पालन में परिवार/समुदाय के प्रभाव को पूरी तरह नजरअंदाज करने की इच्छा नहीं थी। अचर की दलील है कि एक राष्ट्रीय नागरिक की रचना में सक्षम व्यावहारिक शिक्षा संस्थान के रूप में गुरुकुल मॉडल का उदय घर के अर्थों में स्कूल का स्वरूप निर्धारित करने की राष्ट्रवादी चाह का ही संकेत है। उनका कहना है कि परिवार की संरचना के जरिए राष्ट्र के पुनर्नवीकरण के लिए बचपन का सहारा लिया गया है। इस नए मानकीय विमर्श में परिवार को श्रम और आनंद के बीच आमूल पृथकता पर आधारित एक अलग-थलग निजी परिधि के रूप में सोचा गया था। राष्ट्रीय परिवार की भी सवर्ण, मध्यवर्गीय और शहरी परिवार के रूप में ही कल्पना की गई। जब तक इस अचिन्हित परंतु अपेक्षतया राष्ट्रीय परिवार की छवि एक वर्गीय/जातीय स्थिति से मेल खा रही थी तब तक इस परिवार और राष्ट्रीय/राजकीय उद्देश्यों के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं था क्योंकि ये उद्देश्य भी उसी वर्ग/जाति की अवस्थिति से उपजे थे। जिन परिवारों की वर्गीय/जातीय स्थिति भीतरी और बाहरी, निजी और सार्वजनिक, श्रम और आनंद, बचपन और वयस्कता की सख्त पृथकता को स्वीकार नहीं करती थी उनके लिए राष्ट्रीय परिवार और राष्ट्रीय उद्देश्यों के बीच बनने वाला यह सह-संबंध टूटने लगा था। अचर का कहना है कि इसी बिंदु पर (अस्सी के दशक में किसी समय) बाल अपराध, बाल मजदूरी और निराश्रित बच्चों जैसी परिघटनाओं को पथभ्रष्ट परिवारों और अपर्याप्त स्कूलिंग से उपजी समस्याओं के रूप में चिन्हित किया जाने लगा। इस तरह के बच्चे राष्ट्र द्वारा गढ़ी गई बचपन की विचारधारा के लिए एक चुनौती थे क्योंकि वे बचपन की पहली शर्त - वयस्क सत्ता - को मंजूर करने के लिए तैयार नहीं थे। अचर का निष्कर्ष है कि राष्ट्रवाद द्वारा निर्मित और राज्य द्वारा स्वीकृत बचपन की विचारधारा तथा भिन्न प्रकार के बचपनों और भिन्न प्रकार के परिवारों द्वारा इस तरह की विचारधारा को दी जा रही चुनौती से जो असामंजस्य पैदा हुआ है उसी ने बाल मजदूरी से संबंधित मौजूदा बहसों को और ज्यादा लोगों के सामने ला दिया है।

'बच्चे' की कानूनी परिभाषा उद्देश्य और परिस्थितियों के हिसाब से अलग-अलग हो सकती है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि बालिग होने की उम्र 14 साल (श्रम कानून) से 21 साल (संपत्ति कानून, विवाह और अन्य कानून) तक अलग-अलग मानी जाती है। रामास्वामी (1996) का तर्क है कि इस मामले में जाति भी एक भूमिका निभाती है। वह कहती हैं कि संपत्ति और अभिभावकता जैसे

मामले ऊंची जातियों की दुनिया की चीज हैं जिनके लिए अंतर्राष्ट्रीय मानक और कनवेंशन लागू होते हैं जिससे बच्चा 18 साल या यहां तक कि 21 साल तक की उम्र तक बच्चा ही बना रहता है। श्रमिक वर्ग के बच्चे इन उदार कानूनों के दायरे से बाहर होते हैं। राज्य भी उन्हें कुछ व्यवसायों (जैसे मोटर परिवहन, बीड़ी उद्योग, बागान श्रम, खान, आदि) में 14 साल की उम्र में भी कानूनन काम करने की इजाजत देता है।

बचपन की इन कानूनी अवधारणाओं में मौजूद अंतर्विरोधों से स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय बाल अधिकार कार्यकर्ताओं पर असर नहीं पड़ा है। सीआरसी में उल्लिखित अधिकारों के आधार पर उनका तर्क है कि 14 साल से कम उम्र के किसी भी बच्चे को काम नहीं करना चाहिए और ऐसे सारे बच्चों को स्कूल में होना चाहिए। उदाहरण के लिए, 1991 से आंध्र प्रदेश के रंगारेड्डी जिले में सक्रिय एम.वी. फाउंडेशन (एमवीएफ) खतरनाक ओर गैर–खतरनाक कामों के बीच या बच्चों के कार्य और बच्चों के श्रम के बीच कोई फर्क नहीं मानता (सिन्हा 2003)।

अधिकारों के दृष्टिकोण से प्रेरित लोग उन परिवारों के सामाजिक यथार्थ को नजरअंदाज कर देते हैं जिनमें बच्चे 'काम' की कोई जिम्मेदारी नहीं लेते। कई अनुसंधानों में दलील दी गई है जब कोई गरीब परिवार अपने एक या सारे बच्चों को 'शिक्षा' से निकालने का फैसला लेता है तो इस फैसले को परिवार के सामाजिक यथार्थ के आधार पर सही संदर्भ में देखना जरूरी हो जाता है (उदाहरण के लिए देखें, एंटनी एवं गायत्री 2002); तथा बच्चे के विकास को नुकसान पहुंचा सकने वाले बाल श्रम तथा बच्चे को कुछ क्षमताएं, जिम्मेदारियां और सरोकार विकसित करने में मदद देने वाले बाल श्रम के बीच फर्क किया जाना चाहिए (ताकेई 1999; लियेतेन 2002)। कहने का मतलब यह है कि बाल मजदूरी को संबंधित परिवार द्वारा स्वेच्छा से लिए गए फैसले के रूप में देखने का मतलब उस परिवार की वंचनाओं को पूरी तरह नजरअंदाज कर देना होगा। *चाइल्ड लेबर ऐण्ड फूड सिक्योरिटी* किताब की समीक्षा करते हुए लियेतेन (2003) का तर्क है कि अगर सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) मजबूत हो और संबंधित परिवारों को सस्ती कीमत पर अनाज मुहैया करा सके तो बाल मजदूरी की समस्या पर अंकुश लगाया जा सकता है। उनका कहना है कि स्कूल न जाने वाले 8 करोड़ बच्चों में से केवल 1.1 करोड़ बच्चे ही बाल मजदूरी कर रहे हैं। लिहाजा, हमें बाकी बच्चों की भी चिंता करनी चाहिए और ये समझना चाहिए कि वे स्कूल क्यों नहीं जा रहे हैं। इसका मतलब है कि केवल बच्चों या उनके माता–पिता को संबोधित करने वाली बाल मजदूरी विरोधी योजनाएं सफल नहीं हो सकतीं। नइ योजनाओं में उन संस्थानों पर भी ध्यान देना चाहिए जो घर के भीतर अभावों को जन्म देते हैं।

आमतौर पर मजदूर वर्ग के बच्चे अपने मां–बाप की मदद के लिए घर का कुछ काम हाथ में ले लेते हैं (शिवाजी 2003)। इस प्रक्रिया में वे जो अतिरिक्त ज्ञान/निपुणता अर्जित करते हैं उससे भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती जो 'मध्यवर्ग केंद्रित' स्कूली पाठ्यचर्या का हिस्सा कभी नहीं बन पाते हैं। अन्वेषी अध्ययन में लिए गए साक्षात्कारों से पता चलता है कि इस तरह के बच्चों का आत्मबोध बहुत दृढ़ होता है लेकिन मुख्यधारा की संस्कृति से मदद न मिलने के कारण वयस्क कार्य जगत में सहभागिता से उपजा यह आत्मबोध हमेशा के लिए कुंद हो जाता है।

जिन परिवारों में कई पीढ़ी से शिक्षा की परंपरा रही है उनके बच्चों के पास कई तरह से लाभ की स्थितियां होती हैं जो स्कूलिंग से और पुष्ट होती हैं। दीपा श्रीनिवास (2000) ने दर्शाया है कि *अमर चित्रकथा* ने 1970-80 के दशकों में भारत के सैकड़ों मध्यवर्गीय बच्चों की आत्मछवि को एक खास सांचे में ढाल दिया था। लेकिन मजदूर वर्गीय बच्चों को स्कूली पाठ्यपुस्तकों में कभी अपनी जिंदगी की झलक नहीं मिलती। उन्हें अपने समुदाय के लोगों की कहानियां सुनने या पढ़ने का मौका कभी नहीं मिलता। ऐसे साहित्य का अभाव चिंता का विषय होना चाहिए जो देश के अधिकांश लोगों के जीवन जगत का वर्णन करता हो।

अब तक की चर्चा से स्पष्ट है कि बचपन की कोई सार्वभौमिक परिभाषा नहीं होती और पढ़ाई बीच में छोड़ देने की वजहें सिर्फ 'जबरन' बाल मजदूरी के मुद्दे से कहीं ज्यादा व्यापक होती हैं। अधिकारों पर केंद्रित दृष्टिकोण निष्क्रिय हो चुके स्कूलों, सजा के तौर पर मारपीट, विस्थापन, न्यूनतम फीस चुकाने या कॉपी-पेन खरीदने की अक्षमता, समुदाय के भीतर विश्वासघात का भाव, विकलांगता और समझ में न आने वाली पाठ्यचर्या जैसे कारणों को नजरअंदाज करता है (जैन एवं अन्य 2003)। जो लोग अधिकारों के दृष्टिकोण पर जोर देते हैं वे शिक्षा की अंतर्वस्तु के आलोचनात्मक अध्ययन की कोशिश विरले ही कभी करते हैं। इस बारे में कोई बहस नहीं है कि स्कूली शिक्षा के दायरे में (पाठ्यपुस्तकों में) बच्चे के स्वबोध को किस तरह संबोधित किया जा रहा है, या बच्चे के सामाजिक एवं सांस्कृतिक आयामों को किस तरह मान्यता दी जा रही है या दी जानी चाहिए। श्रम को श्रम की शर्तों के साथ जोड़ देने की वजह से अधिकारों की वकालत करने वाले लोग वास्तव में बाल मजदूरी की जटिल समस्या से सिर्फ मुंह चुराने की कोशिश कर रहे हैं। तालिब (2003) का ये सवाल वाजिब है कि 'शिक्षित मध्यवर्ग को समाज का सर्वव्यापी तबका मान लेने भर से यह तय नहीं हो जाएगा कि हमारे समाज में कोई वर्ग विभाजन नहीं है।'

अगर हम ये समझना चाहते हैं कि प्राथमिक कक्षाओं में भी बच्चों के पढ़ाई जारी रखने की दर इतनी कम क्यों है तो हमें लड़कों और लड़कियों, दोनों के घरों और स्कूलों को प्रभावित करने वाली स्थानीय परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए; हमें मजदूर वर्ग के बच्चों के जीवन जगत का अध्ययन करना होगा; हमें मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सामाजिक कार्य एवं शिक्षा विभागों के विद्यार्थियों को पढ़ाए जा रहे बाल विकास पाठ्यक्रम और शिक्षाशास्त्र की समालोचना करनी होगी। हमें जाति आधारित व्यवसायों की सूची तैयार करनी होगी और इस आशय के ब्यौरे इकट्ठा करने होंगे कि उन समुदायों में बच्चों का समाजीकरण किस तरह किया जा रहा है। हमें ऐसे विद्यार्थियों और शिक्षकों की जीवनियां इकट्ठी करनी चाहिए जो अपने परिवार में पढ़ने-लिखने वाली पहली पीढ़ी के सदस्य हैं ताकि ऐसी चीजों को शिक्षा सामग्री में शामिल किया जा सके। हमें विभिन्न समुदायों के लड़कों और लड़कियों से वर्ग, जाति और जेंडर से जुड़े मुद्दों पर बात करनी चाहिए क्योंकि बच्चे की आकांक्षाओं, भावनाओं तथा वर्गीय चेतना पर भौतिक अभावों के प्रभावों के बारे में हमें खास पता नहीं है। मेरा मानना है कि बच्चों से संबंधित मौजूदा समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के एजेंडा को नए सिरे से लिखने के लिए ये सारी जानकारियां बहुत उपयोगी साबित होने वाली हैं।

टिप्पणियां

1. 'करिक्यूलर ट्रांजेक्शंस इन सेलेक्टिड गवर्नमेंट स्कूल्स इन आंध्र प्रदेश' शीर्षक शोध परियोजना (सर रतन टाटा ट्रस्ट, मुंबई द्वारा वित्तपोषित तथा अन्वेषी महिला अध्ययन अनुसंधान केंद्र, हैदराबाद द्वारा संचालित) में अपनी हिस्सेदारी से मुझे इस पर्चे में उठाए गए मुद्दों पर विचार करने का मौका मिला। इस परियोजना में बहुत सारे लोगों ने काम किया है। अन्वेषी में ही इससे पहले प्रस्तुत पर्चे का जो मसविदा पेश किया गया था उस पर इन सभी साथियों से मिले सुझावों की मैं आभारी हूं। इस लेख में जो भी विचार व्यक्त किए गए हैं उनके लिए मैं पूरी जिम्मेदारी लेती हूं। मुझे डॉक्टर शारदा बालगोपालन और इससे पहले के मसविदे पर एक अनाम समीक्षक द्वारा दी गई टिप्पणियों से जबर्दस्त लाभ हुआ है।

2. यह अध्ययन (जून 2000 से मई 2002 के बीच) हैदराबाद और आपास के दस सरकारी स्कूलों पर आधारित है। इन दस स्कूलों में पढ़ने वाले 300 बच्चों तथा उनके 120 अभिभावकों से जानकारियां इकट्ठा करने के लिए प्रश्नावलियों और साक्षात्कारों का सहारा लिया गया। जिन 300 बच्चों से हमने साक्षात्कार लिए उनमें से केवल 40 का कहना था कि वे स्कूल के बाद कोई काम नहीं करते। ज्यादातर बच्चे वेतन के लिए काम नहीं कर रहे थे। उनका काम आर्थिक और पारिवारिक जिम्मेदारियों में हाथ बंटाने तक ही था। उनकी दैनिक दिनचर्या का अध्ययन करने पर मुझे बचपन के बारे में अपनी समझ पर पुनर्विचार का मौका मिला है। यह पूरा डेटाबेस मूल रूप से तेलुगू में था जिसका अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है और उसे इस अध्ययन के लिए विशेष रूप से तैयार किए गए माइक्रोसॉफ्ट एक्सेस डेटाबेस पैकेज के सहारे कंप्यूटरीकृत किया जा चुका है। यह डेटाबेस अन्वेषी के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

संदर्भ

अचर, डी. (1999) पूअर लिटिल थिंग्स : टुवर्ड्स ऐन अंडरस्टैंडिंग ऑफ चाइल्डहुड इन इंडिया। संस्कृति अध्ययन कार्यशाला, खजुराहो में 21–25 जनवरी को प्रस्तुत पर्चा।

एंटनी पी और वी. गायत्री (2002) चाइल्ड लेबर : ए पर्सपेक्टिव ऑफ लोकेल ऐण्ड कांटेक्स्ट, *इकॉनॉमिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली,* 28, पृष्ठ 518–689.

अन्वेषी (2003) करिक्यूलर ट्रांजेक्शन इन सेलेक्टेड गवर्नमेंट स्कूल इन ए.पी.। सर रतन टाटा ट्रस्ट, मुंबई में जमा कराई गई अप्रकाशित रिपोर्ट।

आर्चड, डी. (1993) *चिल्ड्रेन, राइट्स ऐण्ड चाइल्डहुड।* लंदन : रटलेज।

ऐरीज़, फिलीपे (1962) *सेंचुरीज ऑफ चाइल्डहुड,* फ्रांसीसी से अंग्रेजी में रॉबर्ट बालडिग द्वारा अनूदित, लंदन : जोनाथन केप।

बिसेल, एस. (2003) 'दि सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ चाइल्डहुड : ए पर्सपेक्टिव फ्रॉम बंगलादेश'; एन. कबीर, जी. बी. नाबिसन तथा आर सुब्रमण्यम (सं.) *चाइल्ड लेबर ऐण्ड दि राइट टू एजुकेशन : नीड्स वर्सेज़ राइट्स?* नई दिल्ली : सेज में।

ब्लैक, एम (1996) *चिल्ड्रन फर्स्ट। दि स्टोरी ऑफ यूनिसेफ, पास्ट ऐण्ड प्रेजेंट,* ऑक्सफोर्ड, यू.के. : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

बर्मन, ई. (1995) 'व्हाट इज इट? मेसक्युलिनिटी ऐण्ड फेमिनिटी इन कल्चरल रिप्रेजेंटेशंस ऑफ चाइल्डहुड'; एस विलकिंसन एवं सी किसिंगर, (सं.) *फेमिनिज्म ऐण्ड डिस्कोर्स,* लंदन : सेज में।

............, (1997), 'डेवलपमेंटल साइकोलॉजी ऐण्ड इट्स डिस्कँटेंट्स'; डी. फोक्स एवं आई. प्रेलेसतेन्स्की (सं.) *क्रिटिकल साइकोलॉजी : ऐन इंट्रोडक्शन,* लंदन : सेज पब्लिकेशन में।

बटरवर्थ, जी. (2002) *डेवलेपमेंटल साइकोलॉजी : अ स्टुडेंट हैंडबुक,* ईस्ट ससेक्स, यू.के. : साइक्लोजी प्रेस।

सेंटर फॉर पब्लिक पॉलिसी स्टडीज़ (1993) चाइल्ड लेबर इन एपी : ए प्रोफाइल, हैदराबाद : श्रम एवं महिला विकास व बाल कल्याण विभाग, आंध्र प्रदेश सरकार के लिए सीपीपीएस।

फर्ग्यूसन, ए ए (2001) *बैड ब्वॉयज़ : पब्लिक स्कूल इन दि मेकिंग ऑफ ब्लैक मैसक्युलिनिटी,* मिशिगन : यूनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रैस।

हॉलैंड, पी. (1986) 'व्हाट इज ए चाइल्ड?'; पी हॉलैंड, जे स्पेंस एवं एस व्हाटनी (सं.) *फोटोग्राफी ऐण्ड पॉलिटिक्स : 2,* लंदन : कॉमेडिया पब्लिशिंग ग्रुप में।

इलैया, के. (1996) *व्हाई आई एम नॉट ए हिंदू?* कोलकाता, साम्या।

जैन, एस., ए. माथुर, एस. राजगोपाल एवं जे. शाह (2003) 'चिल्ड्रेन, वर्क ऐण्ड एजुकेशन : रिथिंकिंग ऑन आउट ऑफ स्कूल चिल्ड्रेन'; आर. गोविंदा (सं.) *इंडिया एजुकेशन रिपोर्ट : ए प्रोफाइल ऑफ बेसिक एजुकेशन,* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस में।

कक्कड़, एस. (1997) *कल्चर ऐण्ड साइकी : सेलेक्टेड एस्सेज़,* दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

............, (1980) *दि इनर वर्ल्ड : ए साइकोएनालिटिकल स्टडी ऑफ चाइल्डहुड ऐण्ड सोसायटी इन इंडिया,* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

कुमार, कृष्ण (1993) 'स्टडी ऑफ चाइल्डहुड ऐण्ड फैमिली'; टी एस सरस्वती एवं बी कौर सं., *ह्यूमन डेवलपमेंट ऐण्ड फैमिली स्टडीज इन इंडिया,* नई दिल्ली : सेज में।

लियेतेन, जी के (2002) चाइल्ड लेबर इन इंडिया : डिसएन्टेंगलिंग एसेंस ऐण्ड सॉल्यूशन, *इकॉनॉमिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली, 28 दिसंबर,* पृष्ठ 5190–95.

.... (2003) *चाइल्ड लेबर ऐण्ड फूड सिक्योरिटी* : *कमिंग टू ग्रिप्स विद रूरल चाइल्ड वर्क* पुस्तक की समीक्षा, आर. रामचंद्रन एवं एल मसून द्वारा सं., *इकॉनॉमिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली,* 16 अगस्त, पृष्ठ 3467–69.

लश, डी. (1986) 'दि व्हाइट रग'; पी. हॉलैंड, जो स्पेंस एवं सिमॉन वॉटनी (सं.) *फोटोग्राफी ऐण्ड पोलिटिक्स* : *2,* लंदन : कॉमेडिया पब्लिशिंग ग्रुप में।

मयाल, बी 1999 'चिल्ड्रेन ऐण्ड चाइल्डहुड'; एस हुड, बी मयाल एवं एस ओलिवर (सं.) *क्रिटिकल इश्यूज इन सोशल रिसर्च* : *पावर ऐण्ड प्रेज्यूडिस,* बकिंघम, ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस में।

मैसर, डी. एवं एस मिलॉन (सं.) (1999) *एक्सप्लोरिंग डेवलपमेंटल साइकोलॉजी* : *फ्रॉम इन्फेंसी टू एडोलोसेंस,* लंदन : आरनोल्ड।

मुईर, डी. (1999) 'थ्योरीज ऐण्ड मैथड्स इन डेवलेपमेंटल साइकोलॉजी'; ए स्लेटर एवं डी मुईर (स.) *दि ब्लैकवेल रीडर इन डेवलपमेंटल साइकोलॉजी,* ऑक्सफोर्ड, ब्रिटेन : ब्लैकवेल पब्लिशर्स कंपनी में।

नुईवेनहुईस, ओ (1999ए) 'दि पैराडॉक्स ऑफ दि कॉम्पीटेंट चाइल्ड ऐण्ड दि ग्लोबल चाइल्डहुड एजेंडा'; आर फार्डन, डब्ल्यू वान बिंसबर्गन एवं आर वान दिज्क (सं.) *मॉडर्निटी ऑन ए शूस्ट्रिंग* : *डायमेंशंस इन ग्लोबलाइजेशन, कंजंक्शन ऐण्ड डेवलपमेंट्स इन एफ्रीका ऐण्ड बियाँड,* लीडन एवं लंदन। ईआईडीओएस में।

.... (1999 बी) *चिल्ड्रंस लाइफ वर्ल्ड्स* : *जेंडर, वेलफेयर ऐण्ड लेबर इन दि डेवलपिंग वर्ल्ड,* नई दिल्ली : सोशल साईंस प्रेस।

रामास्वामी, गीता (1996) दि चाइल्ड ऐण्ड दि लॉ, यूनिसेफ और आंध्र प्रदेश ज्यूडिशियल अकादमी की रिपोर्ट।

रिचड्र्स, जी. (2002) *पुटिंग साइकोलॉजी इन इट्स प्लेस : अ क्रिटिकल हिस्टॉरिकल रिव्यू,* दूसरा संस्करण, लंदन : रटलेज।

स्टार, एस (1999) 'अमेरिकन चाइल्डकेयर टुडे'; ए स्लेटर एवं डी मुईर संपादित *दि ब्लैकवेल रीडर इन डेवलपमेंट साइकोलॉजी,* लंदन : ब्लैकवेल में।

शर्मा, डी (सं.) (2003) *चाइल्डहुड, फैमिली ऐण्ड सोशियो-कल्चरल चेंज इन इंडिया : रीइंटरप्रेटिंग दि इनर वर्ल्ड,* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

शिवाजी (2003) वर्क रिस्पाँसिबिलिटी ऐण्ड चिल्ड्रेन (तेलुगू), *भूमिका* 51:5-10.

सिंगर, ई (1992) *चाइल्डकेयर ऐण्ड दि साइकोलॉजी ऑफ डेवलपमेंट,* लंदन, न्यूयॉर्क : रटलेज।

सिन्हा, एस. (2003) 'स्कूल्स ऐज इंस्टीट्यूशंस फॉर दि ऐलिमिनेशन ऑफ चाइल्ड लेबर : दि ऐक्सपीरियंस ऑफ दि एम वी फाउंडेशन इन दि रंगा रेड्डी डिस्ट्रिक्ट'; एन कबीर एवं आर सुब्रहमण्यन (सं.) *चाइल्ड लेबर ऐण्ड दि राइट टू एजुकेशन इन साउथ एशिया : नीड्स वर्सेज़ राइट्स?* नई दिल्ली : सेज में।

स्मिथ, पी के, एच कोवी एवं एम ब्लेड्स (1998) *अंडरस्टैंडिंग चिल्ड्रेन्स डेवलपमेंट,* तीसरा संस्करण, लंदन : ब्लैकवेल पब्लिशर्स कंपनी।

श्रीनिवास, डी (2000) अमर चित्र कथा : हिस्ट्री, मेसक्युलिनिटी ऐण्ड दि कंसोलिडेशन ऑफ दि इंडियन मिडिल क्लास (1969-1991) पीएचडी शोधपत्र, हैदराबाद : सीआईईएफएल।

स्टीडमान, सी के (1997) *लैंडस्केप फॉर ए गुड वूमैन,* न्यू ब्रंसवीक, न्यूजर्सी : रटजर्स यूनिवर्सिटी प्रेस।

ताकेई, ए. (1999) चाइल्ड वर्क ऐण्ड स्कूलिंग : ए केस स्टडी ऑफ आंध्र प्रदेश विलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में दक्षिण एशिया शिक्षा सम्मेलन में प्रस्तुत पर्चा।

तालिब, एम. (2003) 'मोडस ऑफ लर्निंग-लेबर रिलेशंस : एजुकेशनल स्ट्रेटेजीज़ ऐण्ड चाइल्ड लेबर'; एन. कबीर, जी. बी. नाबिसन तथा आर सुब्रमण्यम (सं.) *चाइल्ड लेबर ऐण्ड दि राइट टू एजुकेशन : नीड्स वर्सेज़ राइट्स?* नई दिल्ली : सेज में।

यूनिसेफ (1991) फैक्ट्स फॉर लाइफ : ए प्रोग्रेस रिपोर्ट, न्यूयार्क : यूनिसेफ, ब्लैक 1996 द्वारा उद्धृत।

वीरूरू, आर (2001) *अर्ली चाइल्डहुड एजुकेशन,* नई दिल्ली, सेज।

वॉकरडाइन, वी एवं एच लूसी (1989) *डेमोक्रेसी इन दि किचन,* लंदन : विरागो।

वॉल्श, जे (2003) इंग्लिश एजुकेशन ऐण्ड इंडियन चाइल्डहुड ड्यूरिंग दि राज, 1859-1947, *एजुकेशन डायलॉग 1* (1) : 35-75.

वज़ीर, रेखा (सं.) (2000) *दि जेंडर गैप इन बेसिक एजुकेशन : एनजीओज ऐज़ चेंज एजेंट्स,* नई दिल्ली : सेज।

.... (2002) नो टू चाइल्ड लेबर, येस टू एजुकेशन : अनफोल्डिंग ऑफ ए ग्रासरूट्स मूवमेंट इन आंध्र प्रदेश, *इकॉनॉमिक ऐण्ड पोलिटिकल वीकली,* 28 दिसंबर, पृष्ठ संख्या 522–529.

ज़ेलिज़र, वी. ए. (1994) *प्राइसिंग दि प्राइसलेस चाइल्ड : दि चेंजिंग सोशल वेल्यू ऑफ चिल्ड्रन,* प्रिंसटन, एन जे : प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।